ISSN: ISSN: 2583-5149 | Special Edition Vol. 2 | March 2026

भारतीय ज्ञान परंपरा में वर्चस्व नहीं, धर्मात्मक सर्वश्रेष्ठता: भगवद्गीता के आलोक में एक दार्शनिक पुनर्पाठ

डॉ.विवेक पाठक

सहायक प्रोफ़ेसर

भारतीय ज्ञान परम्परा केंद्र

तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय,मुरादाबाद,उत्तर प्रदेश

सारांश

यह सामान्यतः स्वीकार कर लिया गया है कि भारतीय ज्ञान परंपरा का अर्थ केवल कुछ वेदों अथवा उपनिषदों के अध्ययन तक सीमित है। किंतु इस प्रकार की संकीर्ण व्याख्या भारतीय ज्ञान की उस अनादि, जीवंत और सतत प्रकृति को अनदेखा कर देती है, जो न केवल अतीत में विद्यमान थी, बल्कि वर्तमान में भी सक्रिय है और भविष्य में भी बनी रहेगी। ज्ञान किसी एक ग्रंथ, काल या समुदाय की बपौती नहीं होता, बल्कि वह सभ्यता, संस्कृति और परंपरा के साथ निरंतर प्रवाहमान रहता है। भारतीय संदर्भ में वेदों और उपनिषदों का महत्व निर्विवाद है, किंतु भारतीय ज्ञान परंपरा का अर्थ केवल मंत्रों का पाठ नहीं, बल्कि वह एक दार्शनिक विमर्श है–ऐसा विमर्श जो राष्ट्र की अस्मिता, सांस्कृतिक चेतना और धर्मात्मक सर्वश्रेष्ठता को अभिव्यक्त करता है। यहाँ 'सर्वश्रेष्ठता' का आशय वर्चस्व या प्रभुत्व से नहीं, बल्कि धर्म, कर्तव्य और नैतिक उत्तरदायित्व से है।

भगवद्गीता इस दृष्टि को स्पष्ट करती है। श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं–

"न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्"

(भगवद्गीता 3.26)

यह श्लोक बताता है कि ज्ञान का उद्देश्य दूसरों पर बौद्धिक या सांस्कृतिक प्रभुत्व स्थापित करना नहीं, बल्कि समाज में संतुलन और लोककल्याण बनाए रखना है। इस प्रकार भारतीय ज्ञान परंपरा की बुनियाद वर्चस्व नहीं, बल्कि धर्मात्मक समन्वय है।

ब्रिटिश शासन भारत में केवल राजनीतिक सत्ता के रूप में नहीं आया, बल्कि वह अपने साथ पश्चिमी सांस्कृतिक आदर्श भी लाया–जैसे अंग्रेज़ी भाषा, ब्रिटिश प्रशासनिक प्रणाली और ईसाई धर्म। औपनिवेशिक विमर्श में भारतीय समाज को पिछड़ा, स्थिर और आत्मनिर्णय में अक्षम के रूप में प्रस्तुत किया गया, जिसे 'सभ्य' बनाने के लिए ब्रिटिश हस्तक्षेप आवश्यक बताया गया (Said, 1978)।

ब्रिटिश साम्राज्यवादी विचारधारा का एक केंद्रीय स्तंभ एंग्लो-सैक्सन नस्लीय श्रेष्ठता का विश्वास था। यह धारणा सामाजिक डार्विनवाद से प्रभावित थी, जिसने चार्ल्स डार्विन के प्राकृतिक चयन के सिद्धांत को मानव समाजों पर आरोपित किया (Spencer, 1864)। इसके अनुसार, शक्तिशाली नस्लों का कमजोर नस्लों पर शासन करना 'प्राकृतिक' और 'वैध' माना गया।

इसके विपरीत, भारतीय ज्ञान परंपरा में शक्ति का मूल्यांकन नैतिकता से होता है। गीता में श्रीकृष्ण स्पष्ट कहते हैं–

"श्रेष्ठः श्रेष्ठाच्छ्रेयान् भवति" (भावार्थ)
अर्थात् श्रेष्ठ वही है जो कर्तव्य और धर्म के मार्ग पर स्थित हो
(गीता 3.21, Gita Press edition)

यहाँ श्रेष्ठता का आधार सत्ता या नस्ल नहीं, बल्कि आचरण है।

औपनिवेशिक सत्ता ने अपने शासन को 'सभ्य बनाने के मिशन' (Civilizing Mission) के रूप में प्रस्तुत किया, जिसे रुडयार्ड किपलिंग की कविता *The White Man's Burden* (1899) ने वैचारिक समर्थन दिया। इसके अंतर्गत यह मान लिया गया कि गैर-यूरोपीय समाज बालसुलभ, आदिम और नैतिक रूप से अपूर्ण हैं।

इसके विपरीत, भगवद्गीता मानव को आंतरिक अनुशासन और आत्मोन्नति की ओर प्रेरित करती है–

"उद्धरेदात्मनाऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्"
(भगवद्गीता 6.5)

यह श्लोक दर्शाता है कि भारतीय दर्शन में व्यक्ति को बाहरी सत्ता के अधीन नहीं, बल्कि स्व-अनुशासन के माध्यम से उन्नत माना गया है। यही भारतीय ज्ञान की धर्मात्मक सर्वश्रेष्ठता है।

किपलिंग की कविता *The White Man's Burden* (1899), जिसने संयुक्त राज्य अमेरिका से फिलीपींस में साम्राज्यवादी शासन की बागडोर सँभालने का आग्रह किया, औपनिवेशिक मानसिकता की प्रतिनिधि अभिव्यक्ति है। यह कविता इस विचार को पुष्ट करती है कि पश्चिमी शक्तियों–विशेषतः अंग्रेजों–का यह नैतिक कर्तव्य है कि वे अपने उपनिवेशों के स्वदेशी लोगों को 'सभ्य' बनाएं, भले ही इसके लिए उन्हें व्यक्तिगत या आर्थिक बलिदान ही क्यों न देना पड़े। इस तथाकथित सभ्यता-मिशन को ईसाई धर्म के लेंस के माध्यम से वैध ठहराया गया।

मिशनरियों ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद में विशेष भूमिका निभाई, विशेषकर भारत और अफ्रीका में, जहाँ उन्होंने स्वदेशी समाजों को ईसाई धर्म में परिवर्तित करने का संगठित प्रयास किया। धर्मांतरण को उपनिवेशित लोगों की नैतिक और आध्यात्मिक स्थिति में सुधार के साधन के रूप में प्रस्तुत किया गया, क्योंकि औपनिवेशिक दृष्टि में भारतीय समाज 'बुतपरस्त' और अंधविश्वासी प्रथाओं में जकड़ा हुआ माना जाता था। धर्म के साथ-साथ, अंग्रेजों ने कानून, व्यवस्था और शासन की पश्चिमी अवधारणाओं को लागू करने की आवश्यकता पर ज़ोर देकर अपने शासन को न्यायोचित ठहराया।

साम्राज्यवादियों का दावा था कि ब्रिटिश उपनिवेशवाद स्थिर और आधुनिक शासन-व्यवस्थाओं की स्थापना करेगा, जो स्वदेशी शासकों के कथित अराजक या निरंकुश शासन का स्थान लेंगी। परोपकार, प्रगति और सभ्यता की यह भाषा वास्तव में औपनिवेशिक शोषण, संसाधनों के दोहन और हिंसक नियंत्रण की कठोर वास्तविकताओं को ढकने का माध्यम थी। शिक्षा और सभ्य मूल्यों के प्रसार की बात करते हुए भी, व्यवहार में ब्रिटिश नीतियों का प्रमुख उद्देश्य उपनिवेशित समाजों पर स्थायी नियंत्रण बनाए रखना था।

इस औपनिवेशिक प्रक्रिया का प्रत्यक्ष परिणाम यह हुआ कि भारतीय ज्ञान–जो सभ्यता, संस्कृति और जीवन-पद्धति से गहराई से जुड़ा हुआ था–धीरे-धीरे हाशिये पर धकेल दिया गया और ब्रिटिश साम्राज्यवादी विचारधारा के भँवर में फँसता चला गया। जबकि भारतीय ज्ञान परंपरा का मूल उद्देश्य स्वदेशी ज्ञान-प्रणालियों, जैसे आयुर्वेद और योग, के माध्यम से व्यक्ति और समाज के समग्र उत्थान को सुनिश्चित करना था।

भगवद्गीता इस संदर्भ में ज्ञान की ऐसी अवधारणा प्रस्तुत करती है जो वर्चस्व नहीं, बल्कि लोककल्याण पर आधारित है।

श्रीकृष्ण कहते हैं–

“लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि”

(भगवद्गीता 3.20)

यह श्लोक स्पष्ट करता है कि ज्ञान और कर्म का उद्देश्य दूसरों पर शासन करना नहीं, बल्कि समाज के संतुलन और कल्याण को बनाए रखना है। यह दृष्टि औपनिवेशिक सत्ता-विमर्श से मूलतः भिन्न है, जहाँ ज्ञान को प्रभुत्व और नियंत्रण का साधन बनाया गया।

पश्चिमी औपनिवेशिक सोच से मुक्ति, समकालीन ज्ञान के विकास तथा राष्ट्रीय अस्मिता और पहचान को बनाए रखने के उद्देश्य से, आज विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में नई शिक्षा नीति के अंतर्गत भारतीय ज्ञान परंपरा जैसे विषयों को सम्मिलित किया जा रहा है। यह स्वीकार करना आवश्यक है कि जब यूरोप के अनेक देश ज्ञान और लेखन की बुनियादी संरचना को समझने के प्रारंभिक चरण में थे, तब भारत में जनसामान्य के स्तर पर रामायण और महाभारत का पाठ प्रचलित था।

जिस आधार पर भारत को असभ्य और राजनीतिक संस्थाओं से रहित देश बताया गया, उसी भारत के महाकाव्यों–रामायण और महाभारत–में नेतृत्व, अनुशासन, राजधर्म और राजनीतिक प्रबंधन के विस्तृत सिद्धांत उपलब्ध हैं। गीता में कर्म और कर्तव्य की जो व्याख्या मिलती है, वह यह स्पष्ट करती है कि भारतीय ज्ञान परंपरा की सर्वश्रेष्ठता किसी बाह्य वर्चस्व में नहीं, बल्कि धर्म, उत्तरदायित्व और नैतिक आचरण में निहित है–

“कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन”

(भगवद्गीता 2.47)।

जब विश्व के अनेक देश गणित और वैज्ञानिक चिंतन के महत्व को समझने के प्रारंभिक चरण में थे, तब भारतीय ज्ञान परंपरा में वैदिक गणित से संबंधित बहुमूल्य सिद्धांत पहले से विद्यमान थे। ये सिद्धांत न केवल संख्यात्मक गणना तक सीमित थे, बल्कि प्रत्येक विषय को **तर्कसंगत और वैज्ञानिक दृष्टिकोण** प्रदान करते थे। भारतीय गणितीय परंपरा–शून्य की अवधारणा, दशमलव पद्धति और

ज्यामितीय सूत्र–इस बात का प्रमाण है कि ज्ञान को यहाँ प्रयोग और विवेक के साथ जोड़ा गया था (Datta & Singh, *History of Hindu Mathematics*).

वेदों और पुराणों में मनुष्य को केवल ज्ञानी नहीं, बल्कि **जिम्मेदार और कर्तव्यनिष्ठ नागरिक** बनाने का स्पष्ट उद्देश्य दिखाई देता है। यही कारण है कि भारतीय ज्ञान परंपरा में शिक्षा को जीवनोपयोगी और समाजोन्मुखी माना गया। भगवद्गीता इस दृष्टि को और सुदृढ़ करती है, जहाँ श्रीकृष्ण कहते हैं–

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन"

(भगवद्गीता 2.47)

यह श्लोक दर्शाता है कि ज्ञान और कर्म का उद्देश्य केवल व्यक्तिगत उपलब्धि नहीं, बल्कि समाज और प्रकृति के प्रति उत्तरदायित्व है। इसलिए प्रत्येक भारतीय के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी सांस्कृतिक जड़ों को पहचाने और भारतीय ज्ञान को आधुनिक संदर्भ में समझे।

वर्तमान समय में यह अनिवार्य हो गया है कि भारतीय ज्ञान को आधुनिक ज्ञान और वैज्ञानिक पद्धति के साथ जोड़ा जाए। विज्ञान को बढ़ावा देना इसलिए भी आवश्यक है क्योंकि गणित, रसायन और भौतिकी के क्षेत्र में भारतीय परंपरा का ऐतिहासिक योगदान रहा है। यह जोड़ भारतीय ज्ञान को अतीत की वस्तु नहीं, बल्कि **समकालीन और भविष्योपयोगी विचारधारा** के रूप में स्थापित करता है।

भारतीय मूल्यों को सुदृढ़ करने के लिए वैदिक ग्रंथों में वर्णित शासन और सामाजिक संरचना से भी प्रेरणा ली जा सकती है। धर्म, कर्तव्य और लोककल्याण पर आधारित यह संरचना वर्चस्व की नहीं, बल्कि **नैतिक अनुशासन** की पक्षधर है। गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं–

"यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः"

(भगवद्गीता 3.21)

अर्थात् नेतृत्व का आधार शक्ति नहीं, बल्कि आचरण है। यही विचार भारतीय ज्ञान परंपरा को विशिष्ट बनाता है। इस प्रकार भारतीय ज्ञान केवल एक अकादमिक विषय नहीं, बल्कि एक **समग्र विचारधारा** है, जो सदियों से व्यक्ति के व्यवहार, कला, विज्ञान और भाषा के माध्यम से भारतीय समाज में व्याप्त रही है। यह जीवन जीने की कला है, जो जागरूकता के साथ-साथ समाज के सतत विकास की भी बात करती है।

आज जब विश्व पर्यावरणीय संकट और जलवायु परिवर्तन जैसी गंभीर समस्याओं से जूझ रहा है–जिसके परिणामस्वरूप सूखा, जल-संकट और स्वास्थ्य संबंधी चुनौतियाँ बढ़ रही हैं–तब भारतीय ज्ञान परंपरा समाधान का वैकल्पिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है। वैश्विक स्तर पर प्रतिवर्ष अनेक सम्मेलन आयोजित होने के बावजूद वैचारिक मतभेदों के कारण ठोस समाधान नहीं निकल पाता, जबकि भारतीय परंपरा में पर्यावरण संरक्षण और जल प्रबंधन की समग्र व्यवस्था पहले से विद्यमान है।

भारतीय दर्शन और आयुर्वेद में प्रकृति और मानव जीवन के बीच गहरे संबंध को स्वीकार किया गया है। यह माना गया है कि जब तक मनुष्य पर्यावरण के साथ संतुलन बनाए रखता है, तब तक स्वास्थ्य और सामाजिक सुख-संप्रदाय सुरक्षित रहता है। आयुर्वेद में पंचमहाभूत–पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश–के संतुलन को स्वास्थ्य का मूल आधार माना गया है। इनमें असंतुलन होने पर शारीरिक और मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं (Charaka Samhita, Sutrasthana, c.1000 BCE)।

गीता भी इसी समन्वयात्मक दृष्टि को पुष्ट करती है–

“अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः”

(भगवद्गीता 10.20)

यह श्लोक स्पष्ट करता है कि सभी प्राणियों और प्रकृति में एक ही चेतना व्याप्त है। अतः पर्यावरण का शोषण आत्म-विनाश के समान है।

भारतीय ज्ञान परंपरा केवल ऐतिहासिक स्मृति या सांस्कृतिक विरासत नहीं है, बल्कि यह एक **जीवंत दार्शनिक चेतना** है, जो व्यक्ति, समाज, प्रकृति और शासन–सभी के बीच संतुलन स्थापित करती है। औपनिवेशिक काल में जिस भारतीय ज्ञान को असभ्य, अवैज्ञानिक और अप्रासंगिक घोषित किया गया, वही ज्ञान आज वैश्विक संकटों–पर्यावरणीय विनाश, मानसिक तनाव, हिंसा और नैतिक पतन–के समाधान के रूप में पुनः उभर रहा है। इस संदर्भ में **भगवद्गीता** भारतीय ज्ञान परंपरा की वह केंद्रीय धुरी है, जो कर्म, ज्ञान और भक्ति के माध्यम से आत्मबोध का मार्ग प्रशस्त करती है।

भगवद्गीता कर्मयोग की ऐसी अवधारणा प्रस्तुत करती है, जो उपनिवेशी शोषण की मानसिकता के पूर्णतः विपरीत है। गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं–

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" (गीता 2.47)

अर्थात मनुष्य का अधिकार केवल कर्म पर है, फल पर नहीं। इसके विपरीत औपनिवेशिक सत्ता ने फल-केंद्रित दृष्टिकोण अपनाते हुए प्राकृतिक संसाधनों, मानव श्रम और ज्ञान का अंधाधुंध शोषण किया। भारतीय ज्ञान परंपरा का यह कर्मदर्शन व्यक्ति को कर्तव्यनिष्ठ, नैतिक और उत्तरदायी नागरिक बनने की प्रेरणा देता है। औपनिवेशिक शासन ने भारतीयों को आत्महीन और नेतृत्वहीन सिद्ध करने का प्रयास किया, जबकि भगवद्गीता में नेतृत्व और सुशासन का स्पष्ट दर्शन मिलता है।

"यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः" (गीता 3.21)

श्रेष्ठ व्यक्ति जैसा आचरण करता है, सामान्य जन उसी का अनुसरण करते हैं। रामायण और महाभारत में वर्णित शासन-प्रणाली, अनुशासन और सामाजिक उत्तरदायित्व इस सिद्धांत को व्यवहारिक रूप में प्रस्तुत करते हैं, जो भारतीय प्रशासनिक और नैतिक संरचना की गहराई को दर्शाता है।

पर्यावरणीय संकट के संदर्भ में भी भगवद्गीता और भारतीय ज्ञान परंपरा आधुनिक विज्ञान से कहीं अधिक समग्र दृष्टि प्रस्तुत करती है। गीता में कहा गया है–

"अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः" (गीता 3.14)

अर्थात सभी प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं और अन्न वर्षा से। यह श्लोक स्पष्ट करता है कि प्रकृति का संतुलन ही जीवन का आधार है। आयुर्वेद में पंचमहाभूतों का सिद्धांत और पर्यावरण के साथ सामंजस्यपूर्ण जीवन की अवधारणा आज के जलवायु परिवर्तन और जैव-विविधता संकट का स्थायी समाधान प्रस्तुत करती है। हिंसा और वैश्विक अशांति के संदर्भ में गीता का आत्मसंयम और वैराग्य का दर्शन अत्यंत प्रासंगिक है।

"विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः" (गीता 2.71)

जब व्यक्ति लोभ, मोह और अहंकार से मुक्त होता है, तब हिंसा स्वतः समाप्त होती है। यही दर्शन महात्मा गांधी के सत्य और अहिंसा के सिद्धांत में परिलक्षित होता है, जिसने औपनिवेशिक सत्ता की नींव को हिला दिया।

वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना को गीता का सार्वभौमिक दृष्टिकोण और अधिक व्यापक बनाता है– **"समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्"** (गीता 13.27)

जो सभी प्राणियों में एक ही चेतना को देखने की शिक्षा देता है। यह दृष्टि औपनिवेशिक वर्चस्व और श्रेष्ठता की मानसिकता को पूरी तरह नकारती है और वैश्विक समानता, शांति एवं सह-अस्तित्व का मार्ग प्रशस्त करती है। आधुनिक विश्व में, जहाँ वैश्वीकरण, पर्यावरणीय संकट और सामाजिक असंतुलन की चुनौतियाँ निरंतर बढ़ती जा रही हैं, **वसुधैव कुटुम्बकम्** का सिद्धांत एक समग्र और मानवीय समाधान प्रस्तुत करता है। यह अवधारणा यह स्पष्ट करती है कि प्रत्येक व्यक्ति और समुदाय का कल्याण अंततः समस्त मानवता और समस्त जीव-जगत के कल्याण से जुड़ा हुआ है। अतः विश्व को एक बेहतर स्थान बनाने के लिए आपसी सहयोग, सह-अस्तित्व और नैतिक उत्तरदायित्व अनिवार्य हैं।

भारतीय दर्शन और संस्कृति का मूल आधार यह विचार है कि **"सभी जीवों को इस धरती पर समान रूप से जीने का अधिकार है।"** भारतीय ज्ञान परंपरा में यह मान्यता निहित है कि मानव केवल इस पृथ्वी का स्वामी नहीं, बल्कि उसका संरक्षक है। वेदों और उपनिषदों में प्रकृति और जीव-जगत को एक समग्र इकाई के रूप में देखा गया है, जहाँ प्रत्येक तत्व एक-दूसरे पर आश्रित है (Rigveda, c.1500 BCE)। यह दृष्टिकोण जीवन को खंडों में नहीं, बल्कि एक **समन्वित संपूर्णता** के रूप में समझने की प्रेरणा देता है।

भगवद्गीता में श्रीकृष्ण का कथन–

"अहं आत्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः" (गीता 10.20)

यह स्पष्ट करता है कि ईश्वर सभी प्राणियों में व्याप्त है। यह विचार प्रत्येक जीव के अस्तित्व, सम्मान और संरक्षण को समान महत्व देता है। इसी दार्शनिक आधार पर महात्मा गांधी ने अहिंसा को केवल राजनीतिक साधन नहीं, बल्कि एक **सार्वभौमिक नैतिक मूल्य** के रूप में अपनाया। उनके अनुसार, प्रत्येक जीव के अधिकार का सम्मान किए बिना सच्ची स्वतंत्रता और शांति संभव नहीं है (Gandhi, 1958)।

इस दृष्टिकोण से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय परंपरा केवल मानव-केंद्रित नहीं, बल्कि **जीव-केंद्रित और प्रकृति-संवेदी** है। भारतीय दर्शन यह स्वीकार करता है कि मनुष्य, पशु, वनस्पति और प्रकृति–सभी एक-

दूसरे पर निर्भर हैं। इसीलिए भारतीय चिंतन में यह विचार बार-बार उभरता है कि हम इस पृथ्वी पर **स्थायी स्वामी नहीं, बल्कि अस्थायी अतिथि** हैं। अतः हमारी नैतिक जिम्मेदारी है कि हम भविष्य की पीढ़ियों और आने वाले "अतिथियों" के लिए पृथ्वी को सुरक्षित और संतुलित बनाए रखें। इस संदर्भ में **जैन धर्म** का योगदान विशेष रूप से उल्लेखनीय है। जैन दर्शन में पर्यावरणीय नैतिकता अत्यंत गहराई से निहित है। *अहिंसा*, *अपरिग्रह* और *सम्यक दृष्टि* जैसे सिद्धांत न केवल व्यक्तिगत आचरण, बल्कि संसाधनों के विवेकपूर्ण उपयोग का भी मार्गदर्शन करते हैं। जैन परंपरा यह मानती है कि सभी जीवों में आत्मा विद्यमान है, इसलिए प्रत्येक जीवन पवित्र और संरक्षण योग्य है।

आचारांग सूत्र (5वीं शताब्दी ईसा पूर्व) में पृथ्वी, जल, वायु और वनस्पति की रक्षा को आध्यात्मिक कर्तव्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है। वहीं *तत्वार्थ सूत्र* (1वीं शताब्दी ईस्वी) में महावीर स्वामी का यह संदेश मिलता है कि करुणा और दया का विस्तार केवल मनुष्य तक सीमित नहीं, बल्कि सभी प्राणियों तक होना चाहिए। यह विचार आज के पर्यावरणीय संकटों–जलवायु परिवर्तन, जैव-विविधता ह्रास और प्रदूषण– के समाधान की दिशा में अत्यंत प्रासंगिक प्रतीत होता है।

भारतीय ज्ञान परंपरा को आगे बढ़ाने के लिए केवल भावनात्मक आग्रह पर्याप्त नहीं है, बल्कि इसके लिए एक **दीर्घकालीन, सुसंगत और संरचित योजना** की आवश्यकता है। योग, आयुर्वेद, दर्शन और पर्यावरणीय चिंतन से समृद्ध यह परंपरा तभी समकालीन समाज में प्रभावी बन सकती है जब इसे शिक्षा, शोध और सामाजिक जागरूकता से जोड़ा जाए। पारंपरिक ज्ञान को नई पीढ़ी तक पहुँचाने के लिए डिजिटल तकनीक, ऑनलाइन पाठ्यक्रम और अंतरविषयक शोध जैसे आधुनिक माध्यमों का उपयोग अनिवार्य है।

साथ ही, भारतीय ज्ञान परंपरा का मूल तत्व–**सहयोग और सामूहिकता**–आज भी उतना ही प्रासंगिक है। महात्मा गांधी ने कहा था कि "सच्ची प्रगति तभी संभव है जब हम एक-दूसरे के साथ सहयोग करें" (Gandhi, 1958)। यह सहयोग भावना न केवल समाज को सशक्त बनाती है, बल्कि भारतीय ज्ञान परंपरा को जीवंत बनाए रखने का आधार भी प्रदान करती है। अतः यह कहा जा सकता है कि भारतीय ज्ञान परंपरा केवल अतीत की धरोहर नहीं, बल्कि **भविष्य की दिशा** है–जो वैश्विक संकटों के बीच मानवता, प्रकृति और नैतिकता के बीच संतुलन स्थापित करने की क्षमता रखती है।

संदर्भ

1. Acaranga Sutra. (5th century BCE). *Acaranga Sūtra* (Trans. Hermann Jacobi). Oxford University Press.
2. Bhagavad Gītā. (c. 2nd century BCE). *The Bhagavad Gītā* (Trans. Eknath Easwaran). Nilgiri Press.
3. Bhagavad Gītā. (c. 2nd century BCE). *The Bhagavad Gītā* (Trans. S. Radhakrishnan). HarperCollins.
4. Bhagavad Gītā. (c. 2nd century BCE). *The Bhagavadgītā in Sanskrit with English translation* (Trans. Swami Sivananda). Divine Life Society.
5. Bhagavad Gītā. (c. 2nd century BCE). *Śrīmad Bhagavad Gītā with Śaṅkara Bhāṣya* (Trans. Swami Gambhirananda). Advaita Ashrama.
6. Charaka. (c. 1000 BCE). *Charaka Saṃhitā* (Trans. P. V. Sharma). Chaukhambha Orientalia.
7. Galtung, J. (1969). Violence, peace, and peace research. *Journal of Peace Research*, 6(3), 167-191. https://doi.org/10.1177/002234336900600301
8. Gandhi, M. K. (1958). *The collected works of Mahatma Gandhi* (Vols. 1-100). Publications Division, Government of India.
9. Iyengar, B. K. S. (1966). *Light on yoga*. George Allen & Unwin.
10. Jacobi, H. (Trans.). (1884). *Jaina sūtras, Part I: The Acaranga sūtra*. Oxford University Press.
11. Mahavira. (1st century CE). *Tattvārtha Sūtra* (Trans. Nathmal Tatia). HarperCollins.
12. Rigveda. (c. 1500 BCE). *Ṛgveda Saṃhitā* (Trans. Ralph T. H. Griffith). Motilal Banarsidass.
13. Śaṅkara. (8th century CE). *Bhagavad Gītā Bhāṣya* (Trans. Swami Gambhirananda). Advaita Ashrama.

14. Taittirīya Upaniṣad. (c. 700 BCE). *The Taittirīya Upaniṣad* (Trans. S. Radhakrishnan). HarperCollins.
15. United Nations. (2021). *World social report 2021: Reconsidering rural development*. United Nations Publications.
16. World Health Organization. (2023). *Climate change and health*. World Health Organization.